श्रमण कौन ?

डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

'समयसार' के मोक्षाधिकार में कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जिस प्रकार बन्धन में पड़ा व्यक्ति यद्यपि यह जानता है कि मैं बन्धन में पड़ा हूं, अमुक कारण से बन्धन में पड़ा हूं और बन्धन तीव्र, मध्यम या हीन अनुभाग वाला है, तथापि जब तक वह छेनी और हथौड़े के द्वारा उस बन्धन को तोड़ने का पुरुषार्थ नहीं करता, तब तक बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो मानव अपने बन्धन के कारणों तथा उनकी तीव्र, मध्यम और हीन अनुभाग शक्तियों को जानता है, तथापि जब तक बन्धन को पुरुषार्थ द्वारा नष्ट नहीं करता, तब तक बन्धन से रहित नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि सम्यक्चारित्र के बिना, मात्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के होने पर भी, यह जीव तेंतीस सागर के विपुल काल तक इसी संसार में पड़ा रहता है। सर्वार्थसिद्धि का अहमिन्द्र अपना तेंतीस सागर का सुदीर्घ काल अपुनरुक्त तत्त्व-चर्चाओं में व्यतीत करता है, पर गुण-स्थानों की भूमिका में चतुर्थ गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ पाता। वह सामान्यतया ४१ प्रकृतियों का ही संवर कर पाता है, अधिक का नहीं, परन्तु सम्यक्चारित्र के प्रकट होते ही सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य रूप से अन्तर्मुहूर्त में ही समस्त कर्मों का क्षय कर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। सम्यक्चारित्र की महिमा वचनागोचर है। सम्यग्दर्शन, धर्मरूप वृक्ष का मूल है, तो सम्यक्चारित्र वह शाखा है जिसमें मोक्ष-रूपी फल लगता है। मोक्षमार्ग के प्रकरण में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—तीनों ही यथास्थान अपना-अपना महत्त्व रखते हैं। इनमें से एक की भी कमी होने पर कार्य-सिद्धि नहीं हो सकती।

सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही होता है। इनके बिना होने वाला चारित्र, जिनागम में मिथ्याचारित्र कहा गया है। सम्यक्त्व के बिना शुभोपयोग की भूमिका भी इस जीव को मोक्ष-मार्ग में अग्रसर नहीं होने देती। कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥७९॥ (ज्ञानाधिकार : प्रवचनसार)

पाप के कारणभूत आरम्भ को छोड़कर जो शुभ चर्या में प्रवृत्त है, वह यदि मोहादि को नहीं छोड़ता है तो शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि मोह-मिथ्यात्व गरल को नष्ट किए बिना आत्मतत्त्व का परिचय नहीं हो सकता। मोह-विलय का उपाय बतलाते हुए वहीं कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८॥ (ज्ञानाधिकार : प्रवचनसार)

जो द्रव्य, गुण और पर्याय के द्वारा अर्हन्त को जानता है वह आत्मा को जानता है, और जो आत्मा को जानता है उसका मोह नियम से विलय-विनाश को प्राप्त होता है। अर्हन्त जीव-द्रव्य है और मैं भी जीव-द्रव्य हूं, फिर कहां अन्तर पड़ गया कि ये भगवान हो गए और मैं भक्त ही बना रहा? अर्हन्त भगवान उस केवल-ज्ञान गुण के धारक हैं जिसमें लोक-अलोक के समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतिफलित हो रहे हैं, और एक मैं हूं जो पीठ के पीछे विद्यमान पदार्थ को भी जानने में असमर्थ हूं। अर्हन्त उस विभाव व्यञ्जन पर्याय के धारक हैं जिसके पश्चात् दूसरी विभाव व्यञ्जन पर्याय होने वाली नहीं है, परन्तु मेरी कितनी पर्यायें शेष हैं—यह मैं नहीं जान सकता। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से जो अर्हन्त को जानता है, उसे अपने और अर्हन्त के बीच में अन्तर डालने वाले मोह का ज्ञान नियम से होता है और मोह का ज्ञान होते ही उसे नष्ट करने का पुरुषार्थ जाग्रत होता है। दर्पण देखने से जिसे अपने मुख पर लगी हुई कालिमा का ज्ञान हो गया है, वह कालिमा को नष्ट करने का पुरुषार्थ नियम से करता है। अर्हन्त-विषयक राग शुभबन्ध का कारण है, परन्तु अर्हन्त-विषयक ज्ञान तो संवर और निर्जरा का ही कारण होता है।

मोह के नष्ट होने और आत्म-तत्त्व के प्राप्त कर लेने पर भी यदि यह जीव राग-द्वेष को नहीं छोड़ता है तो वह शुद्ध आत्मा को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त नहीं कर सकता। राग-द्वेष एक ऐसी कालिमा है जिसके रहते हुए जीव परम शुद्ध वीतराग-भाव को प्राप्त नहीं कर सकता। जो मनुष्य मोह-दृष्टि को नष्ट कर आगम में कुशलता प्राप्त करता है—आगम-ज्ञान के माध्यम से निजस्वरूप का अध्ययन करता है, तथा विरागचर्या—वीतराग-चरित्र—में पूर्ण प्रयत्न से उपस्थित रहता है, वही श्रमण-मुनि-धर्म नाम से व्यवहृत होता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा है—

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं।।८२।। (प्रवचनसार : ज्ञानाधिकार)

सभी अर्हन्त इसी विधि से—इसी रत्नत्रय के मार्ग से—कर्मों का क्षय कर तथा तत्त्वों का उपदेश कर निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। उन्हें मेरा नमस्कार हो।

आत्मा वीतराग-स्वभाव है। उसकी प्राप्ति वीतराग-परिणति से ही हो सकती है, सराग परिणति से नहीं। इसलिए मुमुक्षु प्राणी को वीतराग-चर्या में ही अहर्निश निमग्न रहना चाहिए।

प्रवचनसार के चारित्राधिकार के प्रारम्भ में ही अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धि-
र्द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ।
बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि
द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु।।

परम पारिणामिक भाव से युक्त, शाश्वत सुखधाम आत्मद्रव्य की सिद्धि होने पर, कर्म, नोकर्म और भावकर्म से पृथक् अनुभूति होने पर, चारित्र की सिद्धि होती है और चारित्र की सिद्धि होने पर उस आत्मद्रव्य की सिद्धि होती है—पर से भिन्न अखण्ड एक आत्मद्रव्य की उपलब्धि होती है—इसलिए अन्य जीव भी ऐसा जानकर निरन्तर उद्यमवन्त हो आत्म-द्रव्य के अविरुद्ध चारित्र का आचरण करें।

दुःख-निवृत्ति का साधन यदि कोई है तो वह सम्यक्-चारित्र ही है, सम्यक्-चारित्र की पूर्णता श्रामण्य मुनिपद में ही होती है। अतएव कुन्दकुन्द स्वामी स्नेहपूर्ण भाषा में संबोधित करते हुए कहते हैं—

पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुःखपरिमोक्खं।।१।। (प्रवचनसार, चारित्राधिकार)

हे भद्र! यदि तू दुःखों से सर्वथा निवृत्ति चाहता है तो श्रामण्य-मुनि पद अंगीकार कर।

जिसका चित्त संसार से विरक्त हो चुका है, ऐसा मुमुक्षु पुरुष, लोक-व्यवहार की पूर्ति के लिए बन्धु-वर्ग से पूछता है तथा माता-पिता, स्त्री-पुत्र से छुट्टी पाकर पंचाचार के धारक आचार्य की शरण में जाता है। बन्धुवर्ग से पूछने आदि की बात मात्र लोक-व्यवहार की पूर्ति है। अन्तरंग में जब वैराग्य का प्रवाह जोर पकड़ता है तब वज्रदन्त चक्रवर्ती जैसे महापुरुष यह नहीं विकल्प करते कि यह षट्खण्ड का वैभव कौन सँभालेगा? वे अल्पवयस्क पौत्र को राज-तिलक लगाकर वन को चल देते हैं। स्त्री के अनुराग में निमग्न उदयसुन्दर स्त्री के अल्पकालीन विरह को भी नहीं सह सका इसलिए उसके साथ ही चला, परन्तु मार्ग में वन-खण्ड के बीच निश्चलासन से विराजमान ध्यान-मग्न मुनिराज को देख संसार से विरक्त हो गया और वहीं पर दिगम्बर मुद्रा का धारी हो गया। स्त्री आर्यिका बन गई और बहिन को लेने के लिए आया हुआ उदयसुन्दर का साला भी मुनि हो गया। सुकोशल स्वामी माता की आज्ञा के विपरीत अपने पिता कीर्तिधर मुनिराज के समीप जाकर मुनिव्रत धारण कर लेते हैं। सुकुमाल स्वामी रस्सी द्वारा महल के उपरितन खण्ड से नीचे उतर मुनिराज की शरण में पहुंचते हैं और प्रायोपगमन संन्यास धारण कर सुगति के पात्र होते हैं। दीक्षा लेने का निश्चय कर प्रद्युम्न राजसभा में जाकर बलदेव और श्रीकृष्ण से आज्ञा माँगते हैं। दीक्षा लेने की बात सुन कर बलदेव हँसकर कहते हैं—अहो, मैं बूढ़ा बैठा हूं, पर बच्चा दीक्षा लेने की बात कहता है! प्रद्युम्न उत्तर देते हैं—आप लोग तो संसार के स्तम्भ हैं—आपके ऊपर संसार का भार लदा हुआ है परन्तु मैं तो स्तम्भ नहीं हूं, इसलिए दीक्षा लेने का मेरा दृढ़ संकल्प है। राजसभा से निवृत्त हो प्रद्युम्न अन्तःपुर में जाकर स्त्री से कहते हैं—प्रिये! मेरा गृह-त्याग कर दीक्षा लेने का भाव है। स्त्री पहले से ही विरक्त थी, अतः कहती है—जब दीक्षा लेने का भाव है तब 'प्रिये' संबोधन की क्या आवश्यकता है? जान पड़ता है अभी आपका वैराग्य मुख में ही है, हृदय तक नहीं पहुंचा। आपके पहले मैं गृह-त्याग करूंगी। अहा, ऐसे निकट भव्य-अल्प संसारी जीव जब विरक्त होते हैं तब उन्हें किसी से आज्ञा लेने का बन्धन नहीं है। जिस प्रकार बन्धन तोड़ मत्त हाथी वन की ओर भागता है, उसी प्रकार वे लोग गृहस्थी का बन्धन तोड़ वन की ओर भागते हैं।

विरक्त पुरुष वन में आचार्य-चरणों के निकट जाकर गद्गद-कण्ठ से निवेदन करता है—भगवन्, मां प्रतीच्छ—मुझे अंगीकार करो—चरणों की शरण दो। मैंने निश्चय कर लिया है—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।।४।। (प्रवचनसार, चारित्राधिकार)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं दूसरों का नहीं हूं, और दूसरे भी मेरे नहीं हैं। इस जगत् में मेरा कुछ भी नहीं है। इस प्रकार की प्रार्थना सुन मनोविज्ञान के धनी आचार्य दीक्षोन्मुख शिष्य की पात्रता का विचार कर उसे दीक्षा देते हैं। वन में कौन दीक्षा का उत्सव करने वाला होता है ? कौन उसे दूल्हा के समान सजाकर उसकी विन्नायकी निकालता है। जिस कीचड़ से वह निकलकर आया है, पुन: उसी कीचड़ में अपना पैर नहीं देता। मात्र आचार्यवर की आज्ञा प्राप्त कर यथाजात मुद्रा का धारी होता है तथा घास-फूस के समान दाढ़ी-मूंछ और सिर के केश उखाड़ कर फेंक देता है। इस नव-दीक्षित शिष्य को आचार्य तथा संघस्थ मुनि अल्पसंसारी समझ बड़े स्नेह से साथ में रखते हैं तथा उसके ज्ञान और वैराग्य की वृद्धि का निरन्तर ध्यान रखते हैं।

वह नवदीक्षित साधु—पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रिय-दमन, छह आवश्यक और शेष सात गुण—इन अट्ठाईस मूल गुणों का पालन करता हुआ निरन्तर सावधान रहता है। भूख, प्यास, सरदी, गरमी तथा डांस, मच्छर आदि का परीषह सहन करता हुआ चरणानुयोग की पद्धति से पाणि-पात्र में आहार करता है। मधुकरी, गोचरी, अक्षम्रक्षणी, गर्तपूरणी और उदराग्नि-प्रशमनी इन पांच वृत्तियों का पालन करता हुआ अनासक्तिपूर्वक आहार ग्रहण करता है। जो तीर्थंकर गृहस्थावस्था में सौधर्मेन्द्र के द्वारा प्रेषित आहार करते थे, वे भी दीक्षा लेने के पश्चात् इसी मनुष्य-लोक का आहार ग्रहण करते हैं। दिगम्बर मुद्राधारी मुनि यद्यपि निरन्तर जागरूक रहता है, अपने व्रताचरण में सावधान रहता है, तथापि प्रमाद या अज्ञानवश कदाचित् कोई दोष लगता है तो निश्छल भाव से गुरु के आगे उसकी आलोचना कर गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त को स्वीकृत करता है। जिनागम में ऐसे साधु को ही 'श्रमण' कहा है। कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचन-सार में श्रमण का लक्षण इस प्रकार कहा है—

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसायो हवे समणो ॥ २६ ॥ (चारित्राधिकार : प्रवचनसार)

जो मुनि इस लोक में विषयों से निःस्पृह और परलोक-देवादि पर्यायों में अप्रतिबद्ध होकर योग्य आहार-विहार करता है तथा कषाय से रहित होता है, वही श्रमण कहलाता है। श्रमण के पास मात्र शरीर ही का परिग्रह रहता है और उस शरीर में भी वह ममता से रहित होता है। श्रमण की ज्ञान-साधना को वृद्धिंगत करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥३२॥ (चारित्राधिकार : प्रवचनसार)

जो चित्त की एकाग्रता को प्राप्त कर चुका है, वही श्रमण कहलाता है। एकाग्रता उसी को प्राप्त होती है जिसे पदार्थों का दृढ़ निश्चय है और दृढ़ निश्चय आगम से होता है इसलिए साधु को आगम के विषय में चेष्टा करना उत्कृष्ट है, इसका कारण यह है कि जो साधु आगम से हीन होता है वह निज और पर को नहीं जानता और जो निज-पर के विवेक से रहित है वह कर्मों का क्षय करने में असमर्थ रहता है। इसी कारण कुन्दकुन्द स्वामी ने साधु को 'आगमचक्खू साहू' कहा है, अर्थात् साधु का चक्षु आगम ही है। इतना ही नहीं, उन्होंने तो यहां तक लिखा है—

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ॥ ३६ ॥ (चारित्राधिकार : प्रवचनसार)

जिसकी दृष्टि-श्रद्धा आगमानुसार नहीं है उसके संयम कैसे हो सकता है, और जिसके संयम नहीं है वह श्रमण कैसे हो सकता है ?

कोई आगम-ज्ञान को ही सर्वस्व समझ ले और शरीरादिक पर-पदार्थों की मूर्छा को नष्ट न करे, तो उसके लिए संबोधित करते हुए आचार्यवर कहते हैं—

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥३९॥ (चारित्राधिकार : प्रवचनसार)

जिस साधु के शरीरादि पर-पदार्थों में परमाणुमात्र भी मूर्च्छा—ममेदंभाव—विद्यमान है, वह समस्त आगम का धारी होकर भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता।

श्रमण की परिणति से माध्यस्थ भाव टपकता है। देखिये, कितना सुन्दर कहा है—

समसत्तु-बंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥४१॥ (चारित्राधिकार : प्रवचनसार)

जिसके लिए शत्रु-मित्र समान हैं, जो सुख और दुःख में समता-भाव रखता है, प्रशंसा और निन्दा में समान रहता है, पत्थर के ढेले और सुवर्ण जिसे समान प्रतिभासित होते हैं और जो जीवन-मरण में भी समता-भाव को सुरक्षित रखता है, वही श्रमण कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो श्रमण अन्य द्रव्यों को पाकर यदि मोहित होता है, उनमें अहंभाव करता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है, तो वह अज्ञानी है तथा विविध प्रकार के कर्मों से बद्ध होता रहता है। इसके विपरीत जो बाह्य द्रव्यों में न मोह करता है, न राग करता है और न द्वेष करता है, वह निश्चित ही विविध कर्मों का क्षय करता है।

मुनियों का चारित्र निर्दोष रहे—इस उद्देश्य से कुन्दकुन्द स्वामी ने 'भावपाहुड' में उन्हें इतनी सुन्दर देशना दी है कि उसका अच्छी तरह मनन किया जाये तो चारित्र में दोष का अंश भी नहीं रह सकेगा।

छठवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक की भूमिका मुनि की भूमिका कहलाती है। इसके आगे की भूमिका में रहने वाले अर्हन्त, देव कहलाते हैं। सिद्ध परमेष्ठी का समावेश भी देव में ही होता है। गुरु की भूमिका में साधु परमेष्ठी, आचार्य-उपाध्याय और साधु इन तीन भेदों में विभक्त रहते हैं। जो साधु संघ के स्वामी होते हैं, नवीन शिष्यों को दीक्षा देते हैं और संघस्थ साधुओं को प्रायश्चित्त आदि देते हैं वे आचार्य कहलाते हैं। संघ में जो पठन-पाठन का काम करते हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं, तथा जो आत्म-साधना में लीन रहते हैं वे साधु कहलाते हैं। इन साधुओं के ऋषि, मुनि, यति और अनगार के भेद से चार भेद होते हैं। इन्हीं के पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इस प्रकार पांच भेद होते हैं। इनमें स्नातक मुनि— तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान-वर्ती होने से 'देव' संज्ञा से व्यवहृत होते हैं। दूसरी शैली से मुनियों के आचार्य-उपाध्याय, तपस्वी शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ के भेद से दश भेद होते हैं।

इन मुनियों में कितने ही मुनि शुद्धोपयोगी और कितने ही शुभोपयोगी होते हैं। अशुभोपयोगी मानव मुनिसंज्ञा के योग्य ही नहीं हैं। शिष्य-संग्रह, ग्रन्थ-रचना, अर्हद्‌भक्ति, तीर्थवन्दना तथा तीर्थ-प्रवर्तन की भावना शुभोपयोगी मुनियों के होती है और उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी में आरूढ़ मुनि शुद्धोपयोगी कहलाते हैं। ये सब प्रकार के विकल्पों से निवृत्त हो शुद्ध आत्म-स्वरूप में लीन रहते हैं। मुनियों का अधिकांश काल शुभोपयोग में व्यतीत होता है। उस शुभोपयोग के काल में वे शुभ कर्मों का बन्ध करते हैं। उपशम श्रेणी में आरूढ़ मुनि ग्यारहवें गुण-स्थान से च्युत होकर नियम से नीचे आता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि मुनि चतुर्थ गुणस्थान से नीचे नहीं आ पाता, परन्तु उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व गुणस्थान तक में आ सकता है और दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण कर सकता है। यह उपशम श्रेणी चार बार से अधिक नहीं होती। पांचवीं बार नियम से क्षपक श्रेणी प्राप्त कर जीव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ मुनि नीचे नहीं आता किन्तु दशम गुणस्थान के अन्त में मोहकर्म का क्षय कर बारहवें गुणस्थान में पहुंचता है और वहां अन्तर्मुहूर्त में शुक्ल ध्यान के द्वितीय पाये के द्वारा शेष घातिया कर्मों का क्षय कर केवल-ज्ञानी बन जाता है। यदि आयु के निषेक समाप्त हैं तो अन्तर्मुहूर्त में ही समस्त कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है, और आयु के निषेक शेष हैं तो अधिक से अधिक देशोनकोटी वर्ष तक केवली-अवस्था में विहार कर मोक्ष प्राप्त करता है। भावलिंगी मुनि-अवस्था ३२ बार से अधिक नहीं होती। बत्तीसवीं बार के मुनिपद से वह नियम से निर्वाण-धाम को प्राप्त करता है।

इस प्रकार मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की पूर्णता अनिवार्य कारण हैं। अतः हे मुमुक्षुजनो! इनके प्राप्त करने का निरन्तर पुरुषार्थ करो। सच्चा पुरुषार्थ यही है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का धारक व्यक्ति ही श्रमण कहलाता है। मोक्ष-मार्ग में इसी का श्रम श्लाघनीय एवं सफल होता है।

अहिंसा चारित्र

जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेसिं पि जाण जीवाणं।
एवं णच्चा अप्पोवमिओ जीवेसु होदि सदा॥
तेलोक्क-जीविदादो वरेहि एक्कदरगं ति देवेहिं।
भणिदो को तेलोक्कं वरिज्ज संजीविदं मुच्चा॥

भगवान् श्री जिनेन्द्रदेव कहते हैं, हे भव्य, जिस प्रकार तुझे दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार अन्य जीवों को भी वह प्रिय नहीं है—ऐसा जानो। इस समझदारी के साथ अन्य जीवों के प्रति वैसा ही हित भाव से व्यवहार करो जिस प्रकार तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे प्रति करें। एक ओर त्रैलोक्य की सम्पदा और दूसरी ओर जीवन—इन दोनों में से किसी एक को चुनकर ले लो—ऐसा देवों द्वारा कहे जाने पर भी कौन ऐसा होगा जो जीवन को छोड़कर त्रिलोक का वरण करेगा?

(भगवती आराधना, 783, 788)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org